...स्मृति
...नगर

6427

तित्थयर

दिसम्बर १९९२
षोड़श वर्ष : अष्टम अंक

जैन भवन

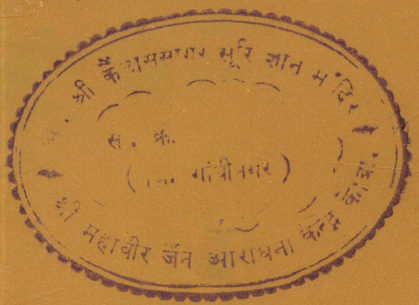

तित्थयर

श्रमण संस्कृति मूलक मासिक पत्र

वर्ष १६ : अंक ८

दिसम्बर १९९२

□

संपादन

गणेश ललवानी

राजकुमारी बेगानी

□

आजीवन : एक सौ एक

वार्षिक शुल्क : दस रुपये

प्रस्तुत अंक : एक रुपया

□

प्रकाशक

जैन भवन

पी-२५ कलाकार स्ट्रीट

कलकत्ता-७००००७

□

मुद्रक

सुराना प्रिन्टिंग वर्क्स

२०५ रवीन्द्र सरणी

कलकत्ता-७

सूची

जैन दार्शनिक साहित्य के विकास की रूपरेखा २२७

जैन धर्म और दीपावली २३७

त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र संकलन २४५

जैन पत्र-पत्रिकाएँ—कहाँ/क्या २५५

3694

जैन देवी, देवगढ़

जैन दार्शनिक साहित्य के विकास की रूपरेखा

पं० दलसुख मालवणिया

जैन दर्शन के साहित्यिक विकास को चार युगों में विभक्त किया जा सकता है।

(१) आगमयुग—भगवान महावीर के निर्वाण से लेकर करीब एक हजार वर्ष का अर्थात् वि० पांचवीं शताब्दी तक का

(२) अनेकान्तव्यवस्थायुग—वि० पांचवीं शताब्दी से आठवीं तक का

(३) प्रमाणव्यवस्थायुग—वि० आठवीं से सत्रहवीं तक का और

(४) नवीन न्याय युग—विक्रम सत्रहवीं से आधुनिक समय पर्यन्त।

१ आगमयुग :

भगवान महावीर के उपदेशों का संग्रह, गणधरों ने अङ्गों की रचना प्राकृत भाषा में करके, जिनमें किया वे आगम कहलाये। उन्हीं के आधार से अन्य स्थविरों ने शिष्यों के हितार्थ और भी साहित्य विषय विभाग करके उसी शैली में ग्रन्थित किया, वह उपाङ्ग, प्रकीर्णक, छेद और मूल के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अलावा अनुयोगद्वार और नन्दी की रचना की गई। आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासक-दशा अन्तकृद्दशा, अनुत्तरोपपातिकदशा, प्रश्नव्याकरणदशा, विपाक—ये ११ अङ्ग उपलब्ध हैं और बारहवाँ दृष्टिवाद विच्छिन्न है। औपपातिक, राजप्रश्नीय, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, कल्पिका, कल्पावतंसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका और वृष्णिदशा—ये बारह उपाङ्ग हैं। आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन तथा पिण्डनिर्युक्ति ये चार मूलसूत्र हैं। निशीथ, बृहत्कल्प, व्यवहार, दशाश्रुतस्कन्ध, प्रञ्चकल्प और महानिशीथ ये छः छेद सूत्र हैं। चतुःशरण, आतुरप्रत्याख्यान, भक्तपरिज्ञा, संस्तारक, तन्दुलवैचारिक, चन्द्रवेध्यक, देवेन्द्रस्तव, गणिविद्या, महाप्रत्याख्यान और वीरस्तव ये दश प्रकीर्णक हैं।

आगमों का अन्तिम संस्करण वीरनिर्वाण के ९८० वर्ष बाद (मतान्तर से ९९३ वर्ष के बाद) वलभी में देवर्धि के समय में हुआ। कालक्रम से आगमों में परिवर्तन और परिवर्धन हुआ है किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि आगम सर्वांशतः देवर्धिकी ही रचना है और उसका समय भी वही है जो देवर्धि का है। आगमों में आचाराङ्ग और सूत्रकृताङ्ग के प्रथम श्रुतस्कन्ध अवश्य ही

पाटलीपुत्र के संस्करण का फल है। भगवती के कई प्रश्नोत्तर और प्रसंगों की संकलना भी उसी संस्करण के अनुकूल हो तो कोई आश्चर्य नहीं। पाटलीपुत्र का संस्करण भगवान के निर्वाण के करीब डेढ़ सौ वर्ष बाद हुआ। विक्रम पाँचवीं शताब्दी में वलभी में जो संस्करण हुआ वही आज हमारे सामने है किन्तु उसमें जो संकलन हुआ वह प्राचीन वस्तुओं का ही हुआ है। सिर्फ नन्दीसूत्र तत्कालीन रचना है और कुछ ऐसी घटनाओं का जिक्र मिलाया गया है जो वीरनिर्वाण के छः सौ से भी अधिक वर्ष बाद घटी हों। ऐसे कुछ अपवादों को छोड़ दें तो अधिकांश ईसवी सन् के पूर्व का है इसमें सन्देह नहीं।

आगम में तत्कालीन सभी विद्याओं का समावेश हुआ है। दर्शन से सम्बद्ध आगम ये हैं—सूत्रकृताङ्ग, स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग, भगवती (व्याख्या-प्रज्ञप्ति), प्रज्ञापना, राजप्रश्नीय, जीवाभिगम, नन्दी और अनुयोग।

सूत्रकृतांग में सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में मतान्तरों का निषेध किया है। किसी ईश्वर या ब्रह्मादि ने इस विश्व को नहीं बनाया, इस बात का स्पष्टीकरण किया गया है। आत्मा शरीर से भिन्न है और वह एक स्वतन्त्र द्रव्य है इस बात को भारपूर्वक प्रतिपादित करके भूतवादियों का खण्डन किया गया है। अद्वैतवाद का निषेध करके नानात्मवाद का प्रतिपादन किया है। क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद और अज्ञानवाद का निराकरण करके शुद्ध क्रियावाद की स्थापना की गई है। स्थानांग तथा समवायांग में ज्ञान, प्रमाण, नय, निक्षेप इन विषयों का संक्षेप में संग्रह यत्रतत्र हुआ है। किन्तु नन्दीसूत्र में तो जैन दृष्टि से ज्ञान का विस्तृत निरूपण हुआ है। अनुयोग-द्वारसूत्र में शब्दार्थ करने की प्रक्रिया का विस्तृत विवरण है तथा प्रमाण, निक्षेप और नय का निरूपण भी प्रसंग से उसमें हुआ है। प्रज्ञापना में आत्मा के भेद, उनके ज्ञान, ज्ञान के साधन, ज्ञान के विषय और उनकी नाना अवस्थाओं का विस्तृत निरूपण है। जीवाभिगम में भी जीव के विषय में अनेक ज्ञातव्य बातों का संग्रह है। राजप्रश्नीय में प्रदेशी नामक नास्तिक राजा के प्रश्न करने पर पार्श्व सन्तानीय श्रमण केशी ने जीव का अस्तित्व सिद्ध किया है। भगवती में ज्ञान-विज्ञान की अनेक बातों का संग्रह हुआ है और अनेक अन्य तीर्थिक मतों का निरास किया गया है।

आगमयुग में इन दार्शनिक विषयों का निरूपण राजप्रश्नीय को छोड़ दें तो युक्तिप्रयुक्ति पूर्वक नहीं किया गया है ऐसा स्पष्ट है। प्रत्येक विषय का निरूपण जैसे कोई द्रष्टा देखी हुई बात बता रहा हो इस ढंग से हुआ है।

किसी व्यक्ति ने शंका की हो और उसकी शंका का समाधान युक्तियों से हुआ हो वह प्रायः नहीं देखा जाता। वस्तु का निरूपण उसके लक्षण द्वारा नहीं किन्तु भेद-प्रभेद के प्रदर्शन पूर्वक किया गया है। आज्ञाप्रधान या श्रद्धा-प्रधान उपदेशशैली यह आगमयुग की विशेषता है।

उक्त आगमों को दिगम्बर आम्नाय नहीं मानता। बारहवें अंग के अंशभूत पूर्व आधार से आचार्यों द्वारा ग्रथित षट्खण्डागम, कषायपाहुड और महाबन्ध ये दिगम्बरों के आगम हैं। इनका विषय जीव और कर्म तथा कर्म के कारण जीव की जो नाना अवस्थाएँ होती हैं यही मुख्य रूप से है।

उक्त आगमों में से कुछ के ऊपर भद्रबाहु ने निर्युक्तियाँ वि० पाँचवीं शताब्दी में की हैं। निर्युक्ति के ऊपर वि० सातवीं शताब्दी में भाष्य बने। ये दोनों पद्य में प्राकृत भाषा में ग्रथित हैं। इन निर्युक्तियों और उनके भाष्य के आधार से प्राकृत गद्य में चूर्णि नामक टीकाओं की रचना वि० आठवीं शताब्दी में हुई। सर्वप्रथम संस्कृत टीका के रचयिता जिनभद्र हैं। उनके बाद कोट्टा-चार्य, और फिर हरिभद्र हैं। हरिभद्र का समय वि० ७५७-८२७ मुनि श्री जिन विजयजी ने निश्चित किया है।

निर्युक्ति से लेकर संस्कृत टीकाओं पर्यन्त उत्तरोत्तर तर्क प्रधान शैली का मुख्यतः आश्रय लेकर आगमिक बातों का निरूपण किया गया है। हरिभद्र के बाद शीलांक, अभयदेव और मलयगिरि आदि हुए। इन्होंने टीकाओं में तत्कालीन दार्शनिक मन्तव्यों का पर्याप्त मात्रा में ऊहापोह किया है।

दिगम्बर आम्नाय के आगमों के ऊपर भी चूर्णियाँ लिखी गई हैं। वि० दसवीं शताब्दी में वीरसेनाचार्य ने वृहत्काय टीकायें लिखी हैं। ये टीकाएँ भी दार्शनिक चर्चा से परिपूर्ण हैं।

आगमों में सब विषयों का वर्णन विप्रकीर्ण था या अतिविस्तृत था। अतएव सर्व विषयों का सिलसिले से सार संग्राहक संक्षिप्त सूत्रात्मक शैली से वर्णन करने वाला तत्त्वार्थ सूत्र नामक ग्रन्थ वाचक उमास्वाति ने बनाया। जैन धर्म और दर्शन की मान्यताओं का इस ग्रन्थ में इतने अच्छे ढंग से वर्णन हुआ है कि जब से वह वि० चौथी या पाँचवीं शताब्दी में बना तब से जैन विद्वानों का ध्यान विशेषतः इसकी ओर गया है। आचार्य उमास्वाति ने स्वयं भाष्य लिखा ही था। किन्तु वह पर्याप्त न था क्योंकि समय की गति के साथ-साथ दार्शनिक चर्चाओं में गम्भीरता और विस्तार बढ़ता जाता था जिसका समावेश करना अनिवार्य समझा गया। परिणाम यह हुआ कि पूज्यपाद ने छठी

शताब्दी में एक स्वतन्त्र टीका लिखी जिसमें उन्होंने जैन पारिभाषिक शब्दों के लक्षण निश्चित किये और यत्र-तत्र दिग्नागादि बौद्ध और अन्य विद्वानों का अल्प मात्रा में खण्डन भी किया। विक्रम सातवीं आठवीं शताब्दी में अकलंक, सिद्धसेन और उनके बाद हरिभद्र ने अपने समय तक होने वाली चर्चाओं का समावेश उसमें कर दिया। किन्तु तत्त्वार्थ की सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक टीका श्लोकवार्तिक नामक है जिसके रचयिता विद्यानन्द हैं।

आगमों की तथा तत्त्वार्थ की टीकाएँ यद्यपि आगम युग की नहीं हैं किन्तु उनका सीधा सम्बन्ध मूल के साथ होने से यहीं उनका संक्षिप्त परिचय करा दिया है।

२ अनेकान्तव्यवस्था युग :

नागार्जुन, असंग, वसुबन्धु और दिग्नाग ने भारतीय दार्शनिक परम्परा को एक नई गति प्रदान की है। नागार्जुन ने तत्कालीन बौद्ध और बौद्धेतर सभी दार्शनिकों के सामने अपने शून्यवाद को उपस्थित करके वस्तु को सापेक्ष सिद्ध किया। उनका कहना था कि वस्तु न भावरूप है न अभाव रूप और न उभय या अनुभयरूप। वस्तु को किसी भी विशेषण देकर उसका रूप बताया नहीं जा सकता, वस्तु अवाच्य है यही नागार्जुनका मन्तव्य था। असंग और वसुबन्धु ये दोनों भाइयों ने वस्तु मात्र को विज्ञानरूप सिद्ध किया और बाह्य जड़ पदार्थों का अपलाप किया। वसुबन्धु के शिष्य दिग्नाग ने भी उनका समर्थन किया और समर्थन करने के लिए बौद्ध दृष्टि से नवीन प्रमाण-शास्त्र की भी नींव रखी। इसी कारण से वह बौद्ध न्यायशास्त्र का पिता कहा जाता है। उसने युक्ति पूर्वक सभी वस्तुओं की क्षणिकता के बौद्ध सिद्धान्त का भी समर्थन किया।

बौद्ध विद्वानों के विरुद्ध में भारतीय सभी दार्शनिकों ने अपने-अपने पक्ष की सिद्धि करने के लिए पूरा बल लगाया। नैयायिक वात्स्यायन ने नागार्जुन और अन्य बौद्ध दार्शनिकों का खण्डन करके आत्मादि प्रमेयों की भावरूपता और उन सभी का पार्थक्य सिद्ध किया। मीमांसक शबर ने विज्ञानवाद और शून्यवाद का निरास करके वेदापौरुषेयता स्थिर की। वात्स्यायन और शबर दोनों ने बौद्धों के 'सर्वं क्षणिकं' सिद्धान्त की आलोचना करके आत्मादि पदार्थों की नित्यता की रक्षा की। सांख्यों ने भी अपने पक्ष की रक्षा के लिए प्रयत्न किया। इन सभी को अकेले दिग्नाग ने उत्तर देकर के फिर विज्ञानवाद का समर्थन किया। तथा बौद्ध सम्मत सर्व वस्तुओं की क्षणिकता का सिद्धान्त स्थिर किया।

ईसा की पाँचवीं शताब्दी तक चलने वाले दार्शनिकों के इस संघर्ष का लाभ जैन दार्शनिकों ने अपने अनेकान्तवाद की व्यवस्था करके लिया।

भगवान महावीर के उपदेशों में नयवाद अर्थात् वस्तु की नाना दृष्टि-बिन्दुओं से विचारणा को स्थान था। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन चार अपेक्षाओं के आधार से किसी भी वस्तु का विधान या निषेध किया जाता है, यह भी भगवान की शिक्षा थी। तथा नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चार निक्षेप को लेकर किसी भी पदार्थ का विचार करना भी भगवान ने सिखाया था। इन भगवदुपदिष्ट तत्त्वों के प्रकाश में जब सिद्धसेन ने उपर्युक्त दार्शनिकों के वाद-विवाद को देखा तब उन्होंने अनेकान्त व्यवस्था के लिए उपयुक्त अवसर समझ लिया और अपने सन्मतितर्क नामक ग्रन्थ में तथा भगवान् की स्तुति प्रधान बत्तीसियों में अनेकान्तवाद का प्रबल समर्थन किया। यह कार्य उन्होंने वि० पाँचवीं शताब्दी में किया।

सिद्धसेन की विशेषता यह है कि उन्होंने तत्कालीन नाना वादों को नय-वादों में सन्निविष्ट कर दिया। अद्वैतवादियों की दृष्टि को उन्होंने जैन-सम्मत संग्रह नय कहा। क्षणिकवादी बौद्धों का समावेश ऋजुसूत्रनय में किया। सांख्यदृष्टि का समावेश द्रव्यार्थिकनय में किया। तथा कणाद के दर्शन का समावेश द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक में कर दिया। उनका तो कहना है कि संसार में जितने दर्शनभेद हो सकते हैं जितने भी वचनभेद हो सकते हैं, उतने ही नयवाद हैं और उन सभी के समागम से ही अनेकान्तवाद फलित होता है। ये नयवाद, ये परदर्शन तभी तक मिथ्या हैं जब तक वे परस्पर को मिथ्या सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं, एक-दूसरे के दृष्टिबिन्दु को समझने का प्रयत्न नहीं करते। अतएव मिथ्याभिनिवेश के कारण दार्शनिकों को अपने मत की क्षतियों का तथा दूसरे के मत की खूबियों का पता नहीं लगता। एक तटस्थ व्यक्ति ही आपस में लड़ने वाले इन वादियों के गुण-दोषों को जान सकता है। स्याद्वाद या अनेकान्तवाद का अवलम्बन लिया जाय तो कहना होगा कि अद्वैतवाद भी एक दृष्टि से ठीक ही है। जब मनुष्य अभेद की ओर दृष्टि करता है और भेद की ओर उपेक्षाशील हो जाता है तब उसे अभेद ही अभेद नजर आता है। जैन दृष्टि से उनका यह दर्शन द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से हुआ है, ऐसा कहा जायगा। किन्तु दूसरा व्यक्ति अभेदगामी दृष्टि से काम न लेकर यदि भेदगामी दृष्टि यानी पर्यायार्थिक नय के बल से प्रवृत्त होता है तो उसे सर्वत्र भेद ही भेद दिखाई देगा। वस्तुतः पदार्थ में भेद भी है और अभेद

भी है। सांख्यों ने अभेद ही को मुख्य माना और बौद्धों ने भेद ही को मुख्य माना और वे दोनों परस्पर खण्डन करने में प्रवृत्त हुए अतएव वे दोनों मिथ्या हैं। किन्तु स्याद्वादी की दृष्टि में भेद दर्शन भी ठीक है और अभेद दर्शन भी। दो मिथ्या अन्त मिलकर ही स्याद्वाद होता है, फिर भी वह सम्यग् है। उसका कारण यह है कि स्याद्वाद में उन दोनों विरुद्ध मतों का समन्वय है, दोनों विरुद्ध मतों का विरोध लुप्त हो गया है। इसी प्रकार नित्य-अनित्य-वाद, हेतुवाद अहेतुवाद, भाव-अभाववाद, सत्कार्यवाद-असत्कार्यवाद इत्यादि नाना विरुद्ध वादों का समन्यय सिद्धसेन ने किया।

सिद्धसेन के इस कार्य में समन्तभद्र ने भी अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन किया है। उन्होंने तत्कालीन विरोधी एकान्तवादों में दोष बताकर स्याद्वाद मानने पर ही निर्दोषता हो सकती है; इस बात को स्पष्ट किया है। उनकी विशेषता यह है कि उन्होंने विरोधी वादों के युगल को लेकर सप्तभंगियों की योजना कैसे करना इसका स्पष्टीकरण, भाव-अभाव, नित्य-अनित्य, भेद-अभेद हेतुवाद-अहेतुवाद, सामान्य-विशेष इत्यादि तत्कालीन नानावादों में सप्तभंगी की योजना बता करके, कर दिया है। वस्तुतः समन्तभद्रकृत आप्तमीमांसा अनेकान्त की व्यवस्था के लिये श्रेष्ठ ग्रंथ सिद्ध हुआ है। आप्त किसे माना जाय इस प्रश्न के उत्तर में ही उन्होंने यह सिद्ध किया है कि स्याद्वाद ही निर्दोष है अतएव उस वाद के उपदेशक ही आप्त हो सकते हैं। दूसरों के वादों में अनेक दोषों का दर्शन कराकर उन्होंने सिद्ध कर दिया है कि दूसरे आप्त नहीं हो सकते क्योंकि उनका दर्शन बाधित है। समन्तभद्र के युक्त्यनुशासन में दूसरों के दर्शन में दोष बताकर उन दोषों का अभाव जैन दर्शन में सिद्ध किया है तथा जैन दर्शन के गुणों का सद्भाव अन्य दर्शन में नहीं है इस बात को युक्ति पूर्वक सिद्ध करने का सफल प्रयत्न किया है।

सन्मति के टीकाकार मल्लवादी ने नयचक्र नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना वि० पांचवी-छठी शताब्दी में की है। अनेकान्त को सिद्ध करने वाला यह एक अद्भुत ग्रन्थ है। ग्रन्थकार ने सभी वादों के एक चक्र की कल्पना की है। जिसमें पूर्व-पूर्ववाद का उत्तर-उत्तरवाद का खण्डन करता है। पूर्व-पूर्व की अपेक्षा से उत्तर-उत्तर वाद प्रबल मालूम होता है किन्तु चक्रगत होने से प्रत्येक वाद पूर्व में अवश्य पड़ता है। अतएव प्रत्येक वाद की प्रबलता या निर्बलता यह सापेक्ष है। कोई निर्बल ही हो या सबल ही हो ऐसा एकान्त नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार सभी दार्शनिक अपने गुण दोषों का यथार्थ

प्रतिबिम्ब देख लेते हैं। ऐसी स्थिति में स्याद्वाद की स्थापना अनायास स्वतः सिद्ध हो जाती है।

सिंहगणि ने सातवीं के पूर्वार्ध में इसके ऊपर १८००० श्लोक प्रमाण टीका को लिखकर तत्कालीन सभी वादों की विस्तृत चर्चा की है।

इस प्रकार इस युग के मुख्य कार्य अनेकान्त की व्यवस्था करने में छोटे मोटे सभी जैनाचार्यों ने भरसक प्रयत्न किया है और उस वाद को ऐसी स्थिर भूमिका पर रख दिया है कि आगे के आचार्यों के लिए सिर्फ उस वाद के ऊपर होने वाले नये-नये आक्षेपों का उत्तर देना ही शेष रह गया है।

३ प्रमाणव्यवस्था युग :

बौद्ध प्रमाणशास्त्र के पिता दिग्नाग का जिक्र आ चुका है। उन्होंने तत्कालीन न्याय, सांख्य और मीमांसा दर्शन के प्रमाण लक्षणों और भेद-प्रभेदों का खण्डन करके तथा वसुबन्धु की प्रमाण विषयक विचारणा का संशोधन करके स्वतन्त्र बौद्ध प्रमाण-शास्त्र की व्यवस्था की। प्रमाण के भेद, प्रत्येक के लक्षण, प्रमेय और फल इत्यादि सभी प्रमाण सम्बद्ध बातों का विचार करके बौद्ध दृष्टि से स्पष्टता की ओर अन्य दार्शनिकों के तत्तत् मतों का निरास किया। परिणाम यह हुआ कि दिग्नाग के विरोध में नैयायिक उद्द्योतकर, मीमांसक कुमारिल आदि विद्वानों ने अपनी कलम चलाई और उस नये प्रकाश में अपना दर्शन परिष्कृत किया। इन सभी को तत्कालीन दार्शनिक क्षेत्र में सर्वश्रेष्ठ वादी धर्मकीर्ति ने उत्तर देकर परास्त किया। धर्मकीर्ति के बाद ग्रथित ऐसा कोई भी दार्शनिक ग्रन्थ नहीं जिसमें धर्मकीर्ति का जिक्र न हो। प्राय सभी पश्चाद्भावी दार्शनिकों ने उनके स्वमत विरोधी तर्कों का उत्तर देने का प्रयत्न किया है और स्वानुकूल तर्कों को अपना लिया है।

तदन्तर धर्मकीर्ति की शिष्य परम्परा ने धर्मकीर्ति के पक्ष का समर्थन किया और अन्य दार्शनिकों ने उनके पक्ष का खण्डन किया। यह वाद-प्रतिवाद जब तक बौद्ध दार्शनिक भारत छोड़कर बाहर चले न गये बराबर होता रहा।

इस सुदीर्घकालीन संघर्ष में जैनों ने भी हिस्सा लिया है और अपना प्रमाण शास्त्र व्यवस्थित किया है।

न्यायावतार नामक एक छोटी सी उपलब्ध कृति सिद्धसेन ने बनाई थी यह परम्परा है। तथा पात्रस्वामी ने दिग्नाग के हेतुलक्षण के खण्डन में त्रिलक्षण-कदर्थन नामक ग्रन्थ बनाया था। और भी छोटे-मोटे ग्रन्थ बने होंगे किन्तु

वे तब कालकवलित हो गये हैं। जैन दृष्टि से प्रमाणशास्त्र की प्रतिष्ठा पूर्व परम्परा के आधार से यदि किसी आचार्य ने की है तो वह अकलंक ही है। अकलंक ने धर्मकीर्ति और उनके शिष्य धर्मोत्तर तथा प्रज्ञाकर का खण्डन करके जैन दृष्टि से प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो प्रमाण की स्थापना की।

इन्द्रिय प्रत्यक्ष को व्यावहारिक प्रत्यक्ष कहा तथा अवधि, मन-पर्यय और केवल ज्ञान को परमार्थिक प्रत्यक्ष कहा। यह बात उन्होंने नई नहीं की किन्तु जैन परम्परा के आधार से ही कही है। उन्होंने इन प्रत्यक्षों का तर्कदृष्टि से समर्थन किया तथा प्रत्येक के लक्षण, विषय और फल का स्पष्टीकरण किया। परोक्ष के भेद रूप से उन्होंने स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क अनुमान, और आगम को बताया। और प्रत्येक का प्रामाण्य समर्थित किया। स्मृति का प्रामाण्य किसी दार्शनिक ने माना नहीं था। अतएव सब दार्शनिकों की दलीलों का उत्तर देकर उसका प्रामाण्य अकलंक ने उपस्थित किया। प्रत्यभिज्ञान को अन्य दार्शनिक प्रत्यक्ष रूप मानते थे, या पृथक् स्वतन्त्र ज्ञान ही न मानते थे तथा बौद्ध तो उसके प्रामाण्य को भी मानता न था—इन सभी का निराकरण करके उन्होंने उसका पृथक् प्रामाण्य स्थापित किया और उसी में उपमान का समावेश कर दिया। परोक्ष के इन पाँचों भेदों की व्यवस्था अकलंक की ही सूझ है। और प्रायः सभी जैन दार्शनिकों ने अकलंकोपज्ञ इस व्यवस्था को माना है। प्रमाणव्यवस्था के इस युग में जैनाचार्यों ने पूर्व युग की सम्पत्ति अनेकान्तवाद की रक्षा और विस्तार किया। आचार्य हरिभद्र और अकलंक ने भी इस कार्य को वेग दिया। आचार्य हरिभद्र ने अनेकान्त के ऊपर होने वाले आक्षेपों का उत्तर अनेकान्तजयपताका लिख कर दिया। आचार्य अकलंक ने आप्तमीमांसा के ऊपर अष्टशती नामक टीका लिखकर बौद्ध और अन्य दार्शनिकों के आक्षेपों का तर्कसंगत उत्तर दिया और उसके बाद विद्यानन्द ने अष्टसहस्री नामक महती टीका लिखकर अनेकान्त को अजेय सिद्ध कर दिया।

हरिभद्र ने जैन दर्शन के पक्ष को प्रबल बनाने के लिए और भी कई ग्रंथ लिखे, जिनमें शास्त्रवार्तासमुच्चय मुख्य है।

अकलंक ने प्रमाणव्यवस्था के लिए लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय, और प्रमाण-संग्रह लिखा और सिद्धिविनिश्चय नामक ग्रन्थ लिखकर उन्होंने जैन दार्शनिक मन्तव्यों को विद्वानों के सामने अकाट्य प्रमाण-पूर्वक सिद्ध किये।

आचार्य विद्यानन्द ने अपने समय तक विकसित दार्शनिक वादों को

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में स्थान दिया और उनका समन्वय करके अनेकान्तवाद की चर्चा को पल्लवित किया। तथा प्रमाणशास्त्र सम्बद्ध विषयों की चर्चा भी उसमें की। प्रमाणपरीक्षा नामक अपनी स्वतन्त्र कृति में दार्शनिकों के प्रमाणों की परीक्षा करके अकलंक निर्दिष्ट प्रमाणों का समर्थन किया। उन्होंने आप्त परीक्षा में आप्तों की परीक्षा करके तीर्थंकर को ही आप्त सिद्ध किया और अन्य बुद्धादि को अनाप्त बताया।

आचार्य माणिक्यनन्दी ने अकलंक के ग्रंथों का सार लेकर परीक्षामुख नामक जैन न्याय का सूत्रात्मक ग्रंथ लिखा।

ग्यारहवीं शताब्दी में अभयदेव और प्रभाचन्द्र ये दोनों महान् तार्किक टीकाकार हुये। एक ने सिद्धसेन के सन्मति की टीका के बहाने समूचे दार्शनिक वादों का संग्रह किया। और दूसरे ने परीक्षामुख की टीका प्रमेयकमलमार्तण्ड और लघीयस्त्रय की टीका न्यायकुमुदचन्द्र में जैन प्रमाणशास्त्र सम्बद्ध यावत् विषयों की व्यवस्थित चर्चा की। इन्हीं दो महान् टीकाकारों के बाद बारहवीं शताब्दी में वादी देवसूरि ने प्रमाण और नय की विस्तृत चर्चा करने वाला स्याद्वादरत्नाकर लिखा। यह ग्रन्थ स्वोपज्ञ प्रमाणनयतत्त्वालोक नामक सूत्रात्मक ग्रन्थ की विस्तृत टीका है। इसमें वादी देव ने प्रभाचन्द्र के ग्रन्थों में जिन अन्य दार्शनिकों के पूर्वपक्षों का संग्रह नहीं हुआ था उनका भी संग्रह करके सभी का निरास करने का प्रयत्न किया है।

वादी देव के समकालीन आचार्य हेमचन्द्र ने मध्यम परिमाण प्रमाणमीमांसा लिखकर आदर्श पाठ्य ग्रंथ की क्षति की पूर्ति की है।

इसी प्रकार आगे भी छोटी-मोटी दार्शनिक कृतियाँ लिखी गई किन्तु उनमें कोई नई बात नहीं मिलती। पूर्वाचार्यों की कृतिओं के अनुवाद रूप ही ये कृतियाँ बनी हैं। इनमें न्यायदीपिका उल्लेख योग्य है।

४ नव्यन्याय युग :

भारतीय दार्शनिक क्षेत्र में नव्यन्याय के युग का प्रारम्भ गंगेश से होता है। गंगेश का जन्म वि० १२५७ में हुआ। उन्होंने नवीन न्यायशैली का प्रवर्तन किया। तब से सभी दार्शनिकों ने उसके प्रकाश में अपने अपने दर्शन का परिष्कार किया। किन्तु जैन दार्शनिकों में से किसी का जब तक यशोविजय नहीं हुए, इस ओर ध्यान नहीं गया था, फल यह हुआ कि १३ वीं शताब्दी से १७वीं शताब्दी के अन्त तक भारतीय दर्शनों की विचार धारा का

जो नया विकास हुआ उससे जैन दार्शनिक साहित्य वंचित ही रहा। १८ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में वाचक यशोविजय ने काशी की ओर प्रयाण किया और सर्वशास्त्र वैशारद्य प्राप्त कर उन्होंने जैन दर्शन में भी नवीन न्याय की शैली से कई ग्रंथ लिखे और अनेकान्तवाद के ऊपर दिये गये आक्षेपों का समाधान करने का प्रयत्न किया। उन्होंने अनेकान्तव्यवस्था लिखकर अनेकान्तवाद की पुनः प्रतिष्ठा की। और अष्टसहस्री तथा शास्त्रवार्तासमुच्चय नामक प्राचीन ग्रंथों के ऊपर नवीन शैली की टीका लिखकर उन दोनों ग्रंथों को आधुनिक बनाकर उनका उद्धार किया। जैनतर्कभाषा और ज्ञानबिन्दु लिखकर जैन प्रमाणशास्त्र को परिष्कृत किया। उन्होंने नयवाद के विषय में नयप्रदीप, नयरहस्य, नयोपदेश आदि कई ग्रन्थ लिखे हैं।

वाचक यशोविजय ने ज्ञानविज्ञान की प्रत्येक शाखा में कुछ न कुछ लिख कर जैन साहित्य भण्डार समृद्ध किया है।

इस नव्यन्याय युग की सप्तभंगीतरंगिणी भी उल्लेख योग्य है।

जैन धर्म और दीपावली

श्री भँवरलाल नाहटा

विश्व के सभी धर्मों में पर्वों को पवित्रतम दिन माना गया है। वे पर्व चाहे किसी महापुरुष के जन्म, निधन या विशिष्ट कार्यों से जुड़े हों। कुछ पर्व विजयोल्लास और कुछ ऋतु परिवर्तनादि से सम्बन्धित तथा अपने इष्ट देवी-देवताओं से सम्बन्धित भी माने जाते हैं। जैन धर्म में त्यागवादी संस्कृति का प्राधान्य है। और अधिक से अधिक विज्ञान सम्मत है। वह सृष्टिकर्त्ता ईश्वर मान कर उसके भरोसे अपने पापक्षय हो जाएंगे अथवा बैकुण्ठ प्राप्त हो जायगा यह न मान कर अपने किये हुए कर्म अपने पुरुषार्थ से सदाचार, सद्वर्त्तन द्वारा ही उन्हें क्षय करके क्रमशः परमात्मदशा प्राप्त कर सकेगा। हाँ, परमात्म दशा प्राप्त महापुरुषों के मार्गदर्शन का अवलम्बन अवश्य ही निमित्त कारण है किन्तु उपादान कारण तो अपनी आत्मा ही है। आत्मा से परमात्मा बनने की, वीतराग दशा प्राप्त करने की आध्यात्मिक विधिचर्या से ओत-प्रोत है। जैन धर्म के चौबीस तीर्थंकर इसी क्रम से परमात्म पद प्राप्त हुए हैं और यह अनादि-अनन्त काल की शाश्वत मर्यादा है।

भगवान ऋषभदेव इस कालचक्र में विश्व के प्रथमावतार नरेश्वर कला-कौशल आदि के प्रथम शिक्षक और प्रथम संन्यस्त तीर्थंकर थे। युगल-धर्म को दूर कर संसार की सर्वांगीण मर्यादाएं भी उन्हीं के जरिए प्रवृत्त हुई थी। पूर्व जन्म में बाँधे हुए अन्तराय कर्म के उदय से, एवं साधुओं को आहार दान के सम्बन्ध में जानतिक अनभिज्ञता से उन्हें वर्षाधिक अवधिपर्यंत उपवासी रहना पड़ा था। जब उनके पौत्र श्रेयांसकुमार ने पूर्वजन्म के संस्कारों/जाति स्मृति से उन्हें इक्षुरस से पारण कराया तो प्रथम पर्व अक्षय-तृतीया प्रसिद्ध हुआ। वर्ष में तीन चौमासों के आठ-आठ दिन नवपद[1] ओली की तपाराधना के चैत्र-आश्विन के नौ-नौ दिन शाश्वत अठाइयां कहलाती हैं। इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पर्युषण पर्व की अठाई है जो वर्ष भर में किये हुए पापों की आलोचना/क्षमापना का महापर्व है। देव गुरु धर्म और आत्मसाक्षी से की हुई आलोचना भव भवान्तर के संचित पापों से छुटकारा दिला सकती है।

इन पर्वों के अतिरिक्त ज्ञान पंचमी, मौनेकादशी, पौष दशमी, मेरुतेरस आदि पर्व भी आध्यात्मिक हैं जो त्याग-तपश्चर्या के द्वारा आराध्य हैं। मेरु

---

[1] नव पद—अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु (पंचपरमेष्ठी) एवं दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप।

तेरस पर्व तो भगवान ऋषभदेव का निर्वाण दिवस है जोशिवरात्रि से सामंजस्य रखता है। कार्त्तिक कृष्ण १५ का दीपावली पर्व तो एक ऐसा ऐतिहासिक पर्व है जिस दिन अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर निर्वाण के दिवस से जुड़ा हुआ है जिसे राष्ट्रीय पर्व की सर्वांगीण मान्यता प्राप्त हुई। दीपावली पर्व लोकोत्तर और लौकिक उभय दृष्टि से जनसाधारण में प्रचलित हो गया।

भगवान महावीर का निर्वाण कार्तिक कृष्ण १५ की रात्रि के तीसरे प्रहर में हुआ था। जिस प्रकार सत्ययुगादि कालचक्र प्रसिद्ध हैं उसी प्रकार जैन वाङ्मय में एक काल चक्र के उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी नामक बारह आरे होते हैं, छह चढ़ते काल के और छह उतरते काल के। वर्त्तमान अवसर्पिणी काल के तीन आरे व्यतीत होने पर चौथे आरे के पचहत्तर वर्ष और साढ़े नौ मास अवशेष रहने पर दशवें 'प्राणत' देवलोक से च्यव कर भगवान महावीर माता के गर्भ में आए। उनके पाँच कल्याणक उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र में और अन्तिम निर्वाण कल्याणक दीपावली की रात्रि में स्वाति नक्षत्र में हुआ। यह अन्तिम चातुर्मास मगध देश की मध्यमा पावा में हुआ था।

जब भगवान गर्भ में थे, माता-पिता की मोह दशा ज्ञात कर उनकी विद्यमानता में दीक्षा न लेने का संकल्प किया था अतः माता-पिता के दिवंगत होने पर अग्रज राजा नन्दिवर्द्धन के आग्रहसे एक वर्ष बाद संवत्सर पर्यन्त दान देते हुए त्यागमय जीवन बिताया और मार्गशीर्ष कृष्ण १० को क्षत्रियकुंड नगर के ज्ञात खण्ड उद्यान में संसार त्याग कर निर्ग्रंथ दीक्षा स्वीकार की। उन्होंने बारह वर्ष पर्यंत घोर तपश्चर्या करते हुए असह्य उपसर्ग-परिषह सहन करके आत्मगुणों का घात करने वाले ४ घाती कर्मों[२] का क्षयकर जंभिय ग्राम में केवल्यज्ञान प्राप्त किया और वैशाखी सुदी ११ को पावापुरी में धर्म तीर्थ का प्रवर्त्तन किया। उस समय पावापुरी के निकट ही महान् यज्ञ समारोह हो रहा

---

२ कर्म आठ है। यथा—१ ज्ञानावरणीय, २ दर्शनावरणीय, ३ मोहनीय, ४ अंतराय ये चार आत्म गुणों का घात करनेवाले है। इनके क्षय होने से केवलज्ञान प्रकट होता है। चार अघाती कर्म—१ वेदनीय, २ नाम, ३ गोत्र और ४ आयुष्य ये देह से सम्बन्धित हैं, मोक्ष जाते समय ये चारों क्षय हो जाते हैं। फिर संसार का बीज ही नष्ट हो गया, भव भ्रमण समाप्त हुआ। तब जीव सादि अनंत स्थिति, अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत वीर्य, अनंत सुख में मोक्ष/सिद्ध गति में विराजित अशरीरी हो जाता है।

था जिसमें ११ दिग्गज विद्वान वेद वेदान्त के पारंगत अपने सैकड़ों शिष्य परिवार के साथ उपस्थित थे। वे क्रमशः शास्त्रार्थ हेतु भगवान के समवशरण में आये। भगवान तो सर्वज्ञ सर्वदर्शी थे, उन्होंने उनकी मनोगत शंकाओं का निवारण कर दिया जिससे वे सब अपने शिष्य परिवार सह दीक्षित हो गए। चम्पानगर की राजकुमारी चन्दनबाला भी श्रमणी बनी जिससे चतुर्विध संघ स्थापित हो गया।

भगवान सबकी शंकाओं का समाधान करते। गणधर लोग प्रकाण्ड विद्वान और परम प्रभुभक्त थे। तत्त्वज्ञान की पृच्छा में संक्षिप्त दिए उत्तर को भी वे महान् शास्त्र रूप में परिणत कर देते थे। जिनवाणी में त्रिपदी प्रसिद्ध है। जब प्रभु को तत्व पूछा तो उन्होंने कहा 'उपन्नएवा विगमेवा, धुवेवा' अर्थात् उत्पाद व्यय और ध्रौव्य तत्व है। सोने का एक हार घड़ाया उसकी उत्पत्ति हुई उसे गला कर कंकण बनवा दिया, 'हार' समाप्त हो गया और कंकण उत्पन्न हो गया किन्तु स्वर्ण जो है वह तो ध्रौव्य वस्तु रही। यही तो ब्रह्मा विष्णु और महेश की प्रतीकात्मक शैली की व्याख्या है।

भगवान महावीर वर्द्धमान स्वामी ने ३० वर्ष गृहस्थावास में और दीक्षा लेने के पश्चात् ४२ चातुर्मास (१२ छद्मस्थ अवस्था में घनघोर परिषह-उपसर्ग सहते हुए कठिन तपश्चर्या में और ३० वर्ष विविध क्षेत्रों में विचरण कर धर्मोपदेश देते हुए) व्यतीत किए। भगवान का चातुर्मास १ अस्थि ग्राम में, ३ चम्पा-पृष्ठचम्पा में, १२ वैशाली-वाणिज्य ग्राम में, १४ नालन्दा-राजगृह में, ६ मिथिला में, २ भद्रिका में, १ आलंभिका में, १ पणिय भूमि में, १ श्रावस्ती में हुआ। अन्तिम चातुर्मास मध्यम पावा में हस्तिपाल राजा की पुरानी शुल्कशाला में हुआ। उस समय मगध की राजधानी राजगृह से हटाकर अंग देश के चम्पानगर में ले जाया गया था। अजातशत्रु-कोणिक वहीं रहता था। काशी-कोशल देश के १८ गणराज्य के अधिपति भगवान को वन्दनार्थ पावापुरी में आए थे। भगवान महावीरने अपना आयुशेष ज्ञातकर सोलह प्रहर तक अनवरत देशना दी। १८ गणराजाओं ने पौषधोपवास[१] ग्रहण किया।

अब भगवान के जो चार अघाती कर्म अवशेष थे, आयुष्य मर्यादा के अन्दर सबको शेष करना आवश्यक था, अतः भाषावर्गणाको १६ प्रहर

---

[१] पौषध—यह चारित्र की क्रिया है जो कि चारित्र तिथि (२ अष्टमी २ चतुर्दशी, एवं अमावश्या व पूर्णिमा को उपवास पूर्वक की जाती है। बौद्ध साहित्य में इसे उपौषथ नाम से अभिहित किया है।

तक अनवरत देशना द्वारा एवं अन्य पुद्गलों को केवली समुद्घात[४] के द्वारा दण्डादि तीन आकार को चौदह राजलोक में फैलाकर क्षणमात्र में संस्पर्शकर उऋण हो गए। अब शैलेसी करण[५] द्वारा शरीर में रहे आत्मप्रदेशों को घनीभूत (ठोस) त्रिभाग करके समस्त कर्म ऋण शेष हो जाने से कार्तिक बदि १५ की रात्रि के अन्तिम प्रहर में दूसरे चन्द्र संवत्सर, प्रीतिवर्द्धन मास, नन्दिवर्द्धन पक्ष, देवानन्दा रात्रि, उपशम दिन, नाग करण, सर्वार्थ सिद्ध मुहूर्त्त, स्वाति नक्षत्र, पर्यंकासन में विराजित प्रभु को शक्रेन्द्र ने निवेदन किया कि आपकी जन्म राशि पर तीसवाँ भस्मग्रह आ रहा है अतः एक मुहूर्त्त निर्वाण प्राप्ति में प्रतीक्षा करें। प्रभु ने कहा—आयुष्य कर्म को घटाना-बढ़ाना असंभव है। तीर्थ/शासन का जो भावी भाव है, होगा।

भगवान ने अंतिम देशना में पुण्यपाल राजा के आठ स्वपनों का फल (पंचम आरे का भावी भाव), पचपन कल्याण फल विपाक, पचपन पाप फल विपाक, ३६ अपृष्ट उत्तर (उत्तराध्ययन) कहकर प्रधान अध्ययन कहते हुए शैलेसी करण करके निर्वाण प्राप्त किया, सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हुए।

भगवान पर प्रथम गणधर इन्द्रभूति गौतम स्वामी का प्रशस्त राग था। वीतराग दशा प्राप्त हुए बिना केवलज्ञान कैसे हो? अतः उनका मोह दूर करने के लिए भगवान ने निर्वाण के समय उन्हें देवशर्मा को प्रतिबोध देने के लिए ग्रामान्तर भेज दिया। वहाँ से लौटते समय उन्हें भगवान का निर्वाण संवाद प्राप्त हुआ तो वे असह्य विरह वेदना से विलाप करने लगे। 'प्रभु! आपने मुझे अन्तिम समय में दूर भेज कर लोक व्यवहार भी पालन नहीं किया, मैं क्या, आपके साथ जाने के लिए बाल हठ करता?' उसी क्षण अन्तस् चेतना जागृत

---

[४] केवली समुद्घात—जिस प्रकार भीगी हुई चादर एक स्थान में रख दें तो वह झट पट नहीं सूखेगी किन्तु यदि उसे फैलाकर सुखाया जाय तो वह शीघ्र सूख जायगी। इसी प्रकार जिन पुद्गल परमाणुओं का ऋण शेष है उसे आत्मप्रदेश में फैलाकर/संस्पर्श कर उससे उऋण बना जा सकता है। यह बिलकुल सूक्ष्म क्रिया है।

[५] शैलेसी करण—मानव देह में जो पोलार/फाफा स्थान है जैसे उदर, मुख, गला आदि और जहाँ आत्मप्रदेश नहीं हैं उन्हें त्रिभाग पद्धति से ठोस किया जाता है। अन्तिम अवस्था में जिस मुद्रा में आत्मप्रदेश हैं उसी अवगाहना में अगुरुलघु पर्याययुक्त सिद्धिस्थान में आत्मा ज्योति में ज्योति समाहित रहती है।

हुई और वीतराग दशा से ओत-प्रोत होते ही उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया। वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी दशा को प्राप्त हो गए। भगवान के पार्थिव देह का अंतिम संस्कार नगर के बाह्यवर्त्ती-जलमन्दिर की पावन भूमि में देवों द्वारा सम्पन्न हुआ।

ज्ञान सूर्य भगवान महावीर के निर्वाण प्राप्त होने से भाव उद्योत का विलय हो गया। देवताओं ने द्रव्य उद्योत स्वरुप रत्न दीपक प्रकाशित किए। राजाओं और जन साधारण ने अपनी सामर्थ्यानुसार सोना, चांदी और पीतल के दीपक जलाए आखिर मिट्टी के दीपक जलाये जाने लगे। इस प्रकार दीपावली पर्व की प्रसिद्धि होकर सारे आर्यावर्त्त में वायु वेग से प्रचलित हो गई। भारत के अधिकांश नृपतिगण प्रभु के भक्त थे। भगवान के मामा वैशाली गणराज्य के महाराजा चेटक की सातों पुत्रियों में एक तो भगवान के अग्रज नन्दिवर्द्धन को व्याही थी, एक ने दीक्षा ले ली, बाकी सभी भारत के बड़े-बड़े राज्यों में जैसे राजगृह, चम्पा, उज्जैन, कैशाम्बी, वीतभय पत्तन, आदि के महाराजाओं को व्याही गई थी। भगवान का शिष्य परिवार बड़ा विशाल था। उनके १४००० साधु और ३६००० साध्वियाँ थी। अनेक विशिष्ट ज्ञानियों और निर्वाण प्राप्त करने वालों की बड़ी संख्या थी, उन्होंने भारत के विशाल भूखण्ड पर विचरण कर लाखों को प्रतिबोध दिया था। भगवान के पूर्ववर्त्ती तीर्थंकर पार्श्वनाथ का अनुयायी चतुर्विध संघ भी उनके शासन में सम्मिलित हो गया। जैनागमों में अनेक पार्श्वापत्यों का उल्लेख संप्राप्त है।

भगवान के निर्वाण दिवस दीपावली से नववर्ष का प्रारम्भ कार्तिक सुदि १ को उद्घोषित हुआ। अभिलेखीय प्रमाणों में वीर संवत् सर्व प्राचीन है। यों तो राजाओं की कीर्ति गाथा वाले शिलालेख अपने राज्य के अमुक वर्ष में अमुक अमुक काम किए ऐसे उल्लेख मिलते हैं पर वे सर्वमान्य संवत्सर रूप में मान्य नहीं हुए। भगवान के ४१० वर्ष पश्चात् मालव/उज्जैन पति विक्रमादित्य का और उसके १३५ वर्ष बाद शक संवत् सालिवाहन से चला।

अद्यावधि जितने भी शिलालेख प्राप्त हुए हैं, उनमें सर्व प्राचीन राजस्थान के बड़ली ग्राम से प्राप्त भगवान महावीर के संवत् ८४ उल्लेख वाला अभिलेख अजमेर के म्युजियम में रक्षित है जिसमें मज्झमिका नगरी का उल्लेख है। भारतीय प्राचीन लिपि विशारद महामहोपाध्याय श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने संवतोल्लेख वाले भारतीय लेखों में सर्व प्राचीन होने की मान्यता दी है। दीवाली से संवत् प्रारम्भ होने की मान्यता गुजरात आदि प्रान्तों में प्रसिद्ध है। गणधर गौतम स्वामी के केवलज्ञान दिवस कार्तिक सुदि १ का दिन

नये संवत्सर का प्रारम्भ हुआ और शासन व्यवस्था भगवान के पंचम गणधर सुधर्मा स्वामी को संभालनी पड़ी क्योंकि गौतम स्वामी केवलज्ञानी हो चुके थे। गुजरात के अधिवासी सुदि पक्ष के बाद बदि पक्ष मानने लगे जिससे कार्तिक सुदि के बाद मीगसिर न मान कर कार्तिक बदि मानते हैं। यही कारण है कि बदि के नाम में एक महीने का अन्तर आ गया। व्यापारी वर्ग अपने नये खाते और नये संवत्सर का प्रारम्भ कार्तिक सुदि १ से मानते हैं। इस वीर संवत् से पहिले का कोई संवतोल्लेख वाला अभिलेख नहीं मिलता।

स्वर्ग के सुखों में लक्लीन रहने वाले देव भी दीवाली पर्व पर भगवान की भक्ति में निरन्तर रहे और उन्हें मंत्राक्षरों से याद करने वालों की ओर विशेष ध्यान देना पड़ता है। जैनाचार्य लोग सूरि मंत्र और वर्द्धमान विद्या के मंत्रों को उस दिन विशेष रूप से जाप करते है और वह विशेष सिद्धि दायक माना जाता है।

भगवान महावीर के अग्रज राजा नन्दिवर्द्धन ने पावापुरी में अग्नि संस्कार स्थान पर जल मन्दिर का निर्माण कराया, जिसकी ईंटें ढाई हजार वर्ष की प्राचीन प्रमाणित हुई हैं। सात सौ वर्ष पूर्व के दिल्लीपति सुलतान मुहम्मद तुगलक द्वारा मान्य श्री जिनप्रभसूरि जी ने दीवाली कल्प में लिखा है कि उस समय भी पावापुरी में मेला लगता था और निर्वाण दिवस दीपावली के एक दिन यात्री लोग बिना तेल के केवल पानी से भरे दीपक प्रज्ज्वलित करते थे, यह एक चमत्कार ही था। जल मन्दिर के विशाल पद्म सरोवर में साँप और मेंढक एक साथ कल्लोल करते आज भी देखे जा सकते हैं। यह पवित्र अहिंसक भूमि का प्रभाव ही है। आज भगवान महावीर और बुद्ध की विचरण भूमि हिंसा प्रधान और देश के सभी प्रान्तों की अपेक्षा आचार-विचार में निम्न स्तरीय हो गई, यह काल का ही प्रभाव है।

जैन यात्री गण दीपावली के सप्ताह में हजारों की संख्या में यात्रार्थ उपस्थित होते हैं और बड़े भक्ति भाव से पूजन-भजन-अर्चना होती है। निर्वाण की बेला में सारा जल मन्दिर का परिसर यात्रीगणों से आकीर्ण हो जाता है। पंक्ति बद्ध वे अखण्ड लड्डू लेकर खड़े रहते हैं और सुव्यवस्थित ढंग से लड्डू चढाते हैं। भक्ति पूर्वक आरती, चैत्य वंदन, स्तवन आदि भाव पूर्वक करके गौतम स्वामी का रास गाया जाता है। दिन में भगवान की रथयात्रा/पालकी निकलती है। निर्वाण बेला में अनेकशः दैवी प्रभाव से छत्र हिलता हुआ देखा जाता है। पावापुर जल मन्दिर की छटा देखकर हर व्यक्ति का हृदय

भक्तिभाव से ओत-प्रोत हो जाता है। निर्वाण भूमि मानों साकार भक्ति का प्रतीक और शुक्ल ध्यान का पुञ्ज ही स्थापित हो गया है ऐसा लगता है।

जल मन्दिर तालाब के बीच में है जहाँ पहुँचने के लिए सुन्दर लाल पत्थर की पुल बनी हुई है। राजा नन्दिवर्द्धन के बनवाये हुए ईंट चूने के मन्दिर को ६० वर्ष पूर्व बीकानेर के सेठ पूनमचंदजी सेठिया ने संगमरमर निर्मित्त कर दिया है। मन्दिर के बीच में भगवान के चरण और दोनों ओर गणधरों के चरण है। बाहर अधिष्ठाता देव तथा चारों कोनों में गणधरों, सतियों तथा दादा साहब के चरण हैं। मन्दिर में स्नात्र पूजा और कार्तिक सुदि १ को दादा जी की पूजा पढ़ाई जाती है। जल मन्दिर के सामने दो तीन धर्मशालाएँ और मन्दिर हैं। तालाब से सड़क सीधी गाँव मन्दिर जाती है जहाँ हस्तिपाल राजा की शुल्कशाला में भगवानका निर्वाण व अन्तिम देशना हुई थी। यह गाँव पुरी कहलाता है और आगे पावा गाँव की ओर मार्ग है। जहाँ महासेन वन में भगवान का पहला समवशरण हुआ था वहाँ केवल प्राचीन स्तूप और कँआ था। अब वहाँ जैनाचार्य विजय रामचन्द्रसूरि जी के उपदेश से मकराने का सुन्दर समवशरण, मंदिर और धर्मशाला हो गई है। गाँव मन्दिर की धर्मशाला बड़ी विशाल है। और तीर्थ की भण्डार/पेढ़ी है।

जैन धर्म में दीपावली महापर्व बहुत धूम धाम से मनाया जाता है और पारिवारिक सह भोज उत्तम प्रकार से सभी प्रान्त नगरों में सम्पन्न होते हैं। तपस्वी लोग अष्टम एवं छट्ठ तप/बेला, तेला करते हैं। मन्दिरों में विशेष पूजा-अर्चना होती है। दूसरे दिन द्वारोद्घाटन भी होता है। घर-घर जाकर बन्धु-बान्धवों को प्रणाम किया जाता है।

दीपावली पर्व के उपलक्ष में धार्मिक जन पौषध, उपवास, जप, स्वाध्याय, ध्यान द्वारा आत्म साधन करते हैं। भगवान के निर्वाण और गौतम स्वामी के केवल ज्ञान से सम्बन्धित छः हजार जाप करते हैं, इस प्रकार सारा पर्वाराधन प्रशंसनीय है।

दीपावली पर्व के साथ-साथ भाई दूज पर्व भी संलग्न माना गया है। भगवान का निर्वाण हो जाने से कार्तिक शुक्ल १ को अग्नि संस्कार हुआ। उस दिन भगवान के अग्रज क्षत्रिय कुण्डपुर के नरेश्वर नन्दिवर्द्धन के उपवास था। बहिन सुदर्शना ने उन्हें उपवास का पारणा करा के शोक दूर किया, तभी से भाई दूज की प्रथा चल पड़ी। कार्त्तिक शुक्ल २ को बहिनें अपने भ्राताओं को आमंत्रित कर भोजन कराती हैं।

दीपावली महापर्व सर्वोत्तम सात्त्विक गुणोपेत होते हुए भी आम जनता ने उसे चन्द्रमा में कलंक की भाँति विकृत कर दिया है। बंगाल में लक्ष्मी पूजा आश्विन पूर्णिमा को और काली पूजा दीपावली के दिन मनाई जाती है किन्तु सार्वत्रिक व्यापारी वर्ग दीपावली में ही गणेश व महालक्ष्मी जी की पूजा करते हैं। जैन समाज भी महावीर निर्वाण के साथ-साथ नये बही पूजन करता है। महालक्ष्मी जी की मूर्ति के साथ-साथ चाँदी के सिक्कों को भी दूध से प्रक्षालित कर पूजा करने में संलग्न है। धन प्राप्ति के लिए कुछ लोगों में अज्ञानता वश द्यूत कर्म/जुआ खेलना भी प्रचलित हो गया है। सात दुर्व्यसनों के इस प्रधान दुर्गुण/उपादान से ग्रसित होकर नल और युधिष्ठिर जैसे धर्मराजवत् निंद्य दशा को प्राप्त हो जाते हैं। यद्यपि सरकार इस ओर बेसुध तो नहीं है किन्तु उसकी सतर्कता सर्वथा निर्दोष नहीं कहीं जा सकती। एक दूसरा दुर्गुण/कुप्रथा समाज को कलंकित करने वाली व अग्नि उपद्रव आदि बर्बादी जनक है। वह है बारूद जनित आतिश बाजी। जो अग्निकाय जीवों की विध्वंशक और सम्पत्ति को स्वाहा करने वाली दुर्दान्त राक्षसी है। चंद मिनिटों में सर्वभक्षी अग्नि के द्वारा लाखों की सम्पत्ति स्वाहा हो जाती है। सरकार व प्रबुद्ध जनता को इस विषय में गंभीरतापूर्वक ध्यान देकर बर्बादी को रोकना अत्यावश्यक है।

दीपावली पर्व से इस प्रकार जैन धर्म का प्रगाढ सम्बन्ध है। आध्यात्मिक और आधिभौतिक उभय पक्ष में अपनी-अपनी योग्यता/पात्रता के अनुसार आराधना करना सभी लोगों के लिए औचित्य रखता है। वस्तुतः आत्म हितकर बातों को बिना किसी राग भाव से ग्रहण करें और बाधक भावों को जो आत्मा को अहितकर हों उन्हें बिना किसी द्वेष भाव से त्याग करें, यही वीतराग मार्ग का सार है।

त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र

श्री हेमचन्द्राचार्य

[पूर्वानुवृत्ति]

महीधर राजा की आज्ञा लेकर राम भी विजयनगर का परित्याग करने को प्रस्तुत हुए। जाने को इच्छुक लक्ष्मण ने भी वनमाला से सम्मति चाही। अश्रु प्रवाहित करती हुई बनमाला बोली, 'प्रियतम, उस समय आपने मेरे प्राणों की रक्षा क्यों की थी? उस समय यदि मेरी मृत्यु हो जाती तो वह सुखद मृत्यु होती कारण तब मुझे आपका असह्य विरह सहन नहीं करना पड़ता। हे नाथ, आप मुझसे विवाह कर अपने साथ ले चलिए, नही तो विरह के वेश में यमराज मुझे ले जाएगा।'

लक्ष्मण बोले, 'हे मनस्विनी, इस समय मैं अपने अग्रज की सेवा में निरत हूँ, अतः मेरे साथ चलकर तुम मेरे सेवा कार्य में विघ्न मत बनो। हे वर-वर्णिनी, मैं अपने अग्रज को उनके इच्छित स्थान पर पहुँचा कर तुम्हारे पास आऊँगा और तुम्हें ले जाऊँगा क्योंकि तुम्हारा निवास मेरे हृदय में है। हे मानिनी, मैं यहाँ पुनः आऊँगा। इस बात की प्रतीति के लिए यदि तुम मुझसे कोई प्रतिज्ञा करवाना चाहो तो मैं वह भी करने को तैयार हूं।' उसकी इच्छा पर लक्ष्मण ने यह शपथ ली कि यदि वह पुनः यहाँ नहीं आए तो उन्हें रात्रि भोजन का पाप लगेगा।

रात्रि के शेष भाग में राम ने लक्ष्मण व सीता सहित उस स्थान का परित्याग कर दिया। क्रमशः कई वनों को पार करते हुए वे क्षेमांजलि नामक नगर के निकट पहुँचे व नगर के बाहर के उद्यान में अवस्थित हुए। लक्ष्मण वन्य फल मूल आहरण कर लाए। सीता ने उसे परिष्कार कर राम को खाने के लिए दिया। रामने वह खाया। तदुपरान्त लक्ष्मण रामकी आज्ञा लेकर नगर कोगए और वहाँ पर यह घोषणा सुनी कि 'जो व्यक्ति राजा की शक्ति का प्रहार सहन कर सकेगा राजा उसे अपनी कन्या देंगे।' यह सुनकर लक्ष्मण ने एक व्यक्ति से इसका कारण पूछा। वह बोला, 'यहाँ के राजा का नाम शत्रुदमन है। वे बहुत शक्तिशाली हैं। उनकी रानी कनका देवी की गर्भजात जितपद्मा नामक एक कन्या है। वह कमल नयना और लक्ष्मी के निवास रूप है। उसके पति की शक्ति परीक्षा के लिए राजा ने यह घोषणा करवायी है। किन्तु आज तक कोई भी ऐसा वर नहीं मिला जो उनका शक्ति प्रहार सहन कर सके। अतः प्रतिदिन राजपथ पर यह घोषणा दोहरायी जाती है।'

यह सुनकर लक्ष्मण उसी समय राजसभा में जाकर उपस्थित हुए। उन्हें देखकर राजा ने पूछा, 'आप कौन हैं और यहाँ क्यों आए हैं?' लक्ष्मण ने प्रत्युत्तर दिया, 'मैं राजा भरत का दूत हूँ। किसी कारणवश इधर से निकला था। राह में आपकी कन्या के बारे में घोषणा सुनकर उससे विवाह करने आया हूँ।' राजा ने पूछा 'क्या तुम मेरी शक्ति का प्रहार सहन कर सकोगे?' लक्ष्मण बोले, 'एक ही क्यों, मैं पाँच-पाँच प्रहार सहन करने को तैयार हूँ।'

उसी समय राजकुमारी जितपद्मा राजसभा में आयी और लक्ष्मण को देखते ही मदन के वशीभूत होकर उनसे प्रेम करने लगी। उसने राजा को उन पर शक्ति प्रहार करने का निषेध किया किन्तु राजा ने उसकी बात नहीं सुनी और लक्ष्मण पर शक्ति के पाँच प्रहार किए। लक्ष्मण ने दो शक्ति को दोनों हाथों में, अन्य दो शक्ति को दो बगलोंमें और एक शक्तिको दांतों द्वारा जितपद्मा के मनः सहित ग्रहण कर लिया। जितपद्मा ने तत्काल उनके गले में वरमाला पहना दी। राजा बोले, 'अब इस कन्या को ग्रहण करो।' लक्ष्मण ने उत्तर दिया, 'मेरे अग्रज राम नगर के बाहर उद्यान में हैं। मैं उनके अधीन हूँ।'

यह सुनकर राजा समझ गए ये राम और लक्ष्मण हैं। वे उद्यान में गए और राम को नमस्कार कर उन्हें प्रासाद में ले आए। उन्होंने राम का खूब आदर सत्कार किया। सामान्य अतिथि ही जबकि पूज्य होते हैं तो उत्तम पुरुषों का तो कहना ही क्या? उनका सत्कार ग्रहण कर राम ने वहाँ से प्रस्थान किया। जाने के समय लक्ष्मण बोले, 'जब लौटकर आऊँगा तब आपकी कन्या का पाणिग्रहण करूँगा।'

राम वहाँ से रात्रि के शेष भाग में यात्रा प्रारम्भ कर संध्या समय बंश-शैल नामक गिरि की तलहटी में स्थित बंशस्थल नगर में उपस्थित हुए। वहाँ उन्होंने वहाँ के राजा और समस्त नगरवासियों को भयभीत देखा। उन्होंने एक नागरिक से भय का कारण पूछा उसने प्रत्युत्तर दिया, 'तीन दिन से इस पर्वत पर रात्रि के समय भयंकर अट्टहास सुनायी पड़ता है। उसी अट्टहास के भय से रात्रि के समय समस्त नागरिक अन्यत्र चले जाते हैं और सुबह होते ही यहाँ लौट आते हैं। इस प्रकार इन तीन दिनों से हम भयंकर कष्ट भोग रहे हैं।' तब लक्ष्मण की प्रेरणासे और कौतुहलवश वे पर्वत पर चढ़े—वहाँ उन्होंने कायोत्सर्ग स्थित दो मुनियों को देखा। राम-लक्ष्मण और सीता ने उन्हें वन्दना की। तदुपरान्त उनके सामने राम गोकर्ण प्रदत्त वीणा बजाने लगे।

लक्ष्मण ग्राम और राग् से मनोहर गीत गाने लगे। और सीता अंगहार से विचित्र नृत्य करने लगी।

सूर्य अस्त हुआ। रात्रि क्रमशः गहन होने लगी। उसी समय अनेक बेतालों की सृष्टि कर अनलप्रभ नामक एक देव वहाँ आया और अट्टहास से आकाश गुंजायमान करता हुआ महर्षियों को पीड़ित करने लगा। यह देखकर राम और लक्ष्मण सीता को मुनियों के पीछे बैठाकर कालरूप धारण कर बेतालों को मारने के लिए उद्यत हुए। इनके तेज को सहन नहीं कर सकने के कारण वह देव तुरन्त उस स्थान का परित्याग कर स्वस्थान चला गया। इधर उन दोनों मुनियों को केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। देवों ने आकर केवलज्ञान महोत्सव मनाया।

राम ने उन मुनिद्वय को वन्दना कर उन पर होने वाले उस उपसर्ग का कारण पूछा। तब कुलभूषण नामक मुनि बोले, 'पद्मिनी नामक नगरी में विजय पर्व नामक एक राजा थे। उनका अमृतस्वर नामक एक दूत था। उनकी उपयोगा नामक पत्नी से उदित और मुदित नामक दो पुत्र थे। अमृतस्वर दूत का वसुभूति नामक एक ब्राह्मण मित्र था। उस पर आसक्त होकर उपयोगा ने अपने पति को मारना चाहा। एक बार अमृतस्वर राजा के आदेश से विदेश गया। वसुभूति भी उसके साथ गया और राह में उसने अमृत स्वर की हत्या कर दी। तदुपरान्त वसुभूति नगर लौट आया और लोगों से कहने लगा कि अमृतस्वर ने कार्यवश उसे वापिस भेज दिया है। फिर उपयोगा के पास जाकर बोला, 'हमारे स्वच्छन्द विहार में कण्टक रूप अमृतस्वर की मैंने हत्या कर दी है।' यह सुनकर उपयोगा प्रसन्न हुयी और बोली, 'यह तुमने अच्छा किया। अब इन दोनों पुत्रों को भी मार डालो ताकि दुष्टों के हाथों से मुझे मुक्ति मिले।' वसुभूति ने यह स्वीकार कर लिया। दैवयोग से वसुभूति की पत्नी को इस बात का पता चल गया। उसने ईर्ष्यावश यह सब उदित और मुदित को बता दिया। उदित ने क्रोध में आकर उसी क्षण वसुभूति को मार डाला। मृत्यु के पश्चात उसने नल पल्ली में म्लेच्छ के रूप में जन्म ग्रहण किया।

'एक दिन मतिवर्द्धन नामक मुनि से धर्म श्रवण कर राजा विजय पर्व ने मुनि दीक्षा ग्रहण कर ली। उनके साथ ही उदित और मुदित भी दीक्षित हो गये।

'एक बार उदित और मुदित मुनि सम्मेत शिखर स्थित चैत्यों की वन्दना

करने जा रहे थे। राह भूलकर वे नलपल्ली पहुँच गए। वहाँ वसुभूति का जीव जिसने म्लेच्छ रूप में जन्म ग्रहण किया था उन्हें देखा और पूर्व भव के बैर के कारण मारने दौड़ा। म्लेच्छ राजा ने उसे रोका कारण पूर्व भव में म्लेच्छ पति हरिण थे एवं उदित मुदित कृषक। उस समय किसी शिकारी के हाथ से उस मृग को मुक्त करवाया था इसीलिए म्लेच्छपति ने इस जन्म में उनकी रक्षा की। तदुपरान्त उन मुनियों ने सम्मेत शिखर जाकर वहाँ के चैत्यों की वन्दना की और दीर्घकाल तक पृथ्वी पर विचरण करते रहे। अन्ततः अनशन ग्रहण कर मृत्यु प्राप्त की और महाशुक्र देवलोक में दोनों सुन्दर और सुकेश नामक महर्द्धिक देव हुए।

'वसुभूति के जीव ने अनेक भवों का भ्रमण कर किसी पुण्ययोग से मनुष्य जन्म प्राप्त किया। उस भव में वह तापस बना। उसी रूप में मृत्यु प्राप्त कर ज्योतिष्क देवलोक में धूमकेतु नामक मिथ्यादृष्टि दुष्टदेव बना।

'उदित और मुदित के जीव ने भी महाशुक्र देवलोक से च्युत होकर भरत क्षेत्र के रिष्टपुर नगर में प्रियम्वद राजा की पद्मावती रानी के गर्भ से रत्नरथ और चित्ररथ नामक पुत्र रूप में जन्म ग्रहण किया। धूमकेतु ने भी ज्योतिष्क देवलोक से च्युत होकर उसी राज्य की कनकाभा नामक रानी के गर्भ से अनुद्धर नामक पुत्र रूप में जन्म ग्रहण किया। वह उनका सौतेला भाई था इसलिए वह उनसे ईर्ष्या करने लगा। किन्तु वे लोग उससे ईर्ष्या भाव नहीं रखते थे।

'प्रियम्बद राजा रत्नरथ को राज्य और चित्ररथ एवं अनुद्धार को युवराज पद देकर स्वयं दीक्षित हो गए। वे मात्र छः दिन व्रत पालन कर मृत्यु को प्राप्त हुए और देव रूप में उत्पन्न हुये।

'एक राजा ने अपनी कन्या श्री प्रभा को चाहने पर भी अनुद्धर को न देकर राजा रत्नरथ को दी। इससे कुपित होकर अनुद्धर ने युवराज पद त्यागकर रत्नरथ के राज्य में लूटपाट प्रारम्भ की। रत्नरथ उसे युद्ध में परास्त कर पकड़ लाया किन्तु कुछ दिन पश्चात् उसे मुक्त कर दिया। मुक्त होने के पश्चात् अनुद्धर तापस बन गया। किन्तु स्त्री संसर्ग रखने के कारण उसकी तपस्या व्यर्थ हो गयी। अतः मृत्यु के पश्चात उसने अनेक भव भ्रमण कर पुनः मनुष्य जन्म प्राप्त किया। मनुष्य जन्म में वह पुनः अज्ञान तप कर मृत्यु के पश्चात् उपद्रवकारी अनलप्रभ नामक देव रूप में उत्पन्न हुआ।

'चित्ररथ और रत्नरथ भी क्रमशः दीक्षा ग्रहण कर मृत्यु के पश्चात अच्युत

कल्प में अतिबल और महाबल नामक महर्द्धिक देव बने। वहाँ से च्युत होकर सिद्धार्थपुर के राजा क्षेमंकर की रानी विमला देवी के गर्भ में अवतरित हुए। अनुक्रम से विमला देवी ने दो पुत्रों को जन्म दिया। वे दोनों पुत्र हमलोग ही है। मेरा नाम कुलभूषण और इसका नाम देशभूषण है। राजा ने हमलोगों को शिक्षा देने के लिए घोष नामक उपाध्याय के पास भेजा। वहाँ बारह वर्षों तक रहकर हमने समस्त कलाओं को अधिगत किया। तेरहवें वर्ष में हम घोष उपाध्याय के साथ ही राजमहल को लौट आए। आने के समय राज-प्रासाद के गवाक्ष में एक अनिन्द्य सुन्दरी कन्या को देखा। उसे देखते ही हम उसके प्रेम में पड़ गए। उसने हमारे मन पर अधिकार कर लिया। हम लोगों ने राजा के सम्मुख अपनी कला का प्रदर्शन किया। राजा ने उपाध्याय की पूजा कर उसे बिदा कर दिया। राजा की आज्ञा से हम माँ के पास गए। वहाँ भी हमने पुनः उस कन्या को देखा। माँ ने कहा, 'यह तुमलोगों की बहिन कनकप्रभा है। जब तुमलोग घोष उपाध्याय के पास थे तब इसका जन्म हुआ था। इसलिए तुमलोग इसे नहीं जानते।' यह सुनकर हम लज्जित हो गए और अज्ञानवश उसके अनुरागी होने पर भी अनुतप्त हो गए। हमारे मन में वैराग्य उत्पन्न हो जाने के कारण हम गुरु के पास जाकर उसी समय दीक्षित हो गए। तीव्र तप करते हुये हम इस पर्वत पर आए और शरीर की ममता विसर्जित कर कायोत्सर्गध्यान में स्थित हो गए।

'हमारे पिता हमारे वियोग से दुःखी होकर अनशन मृत्यु वरण कर महा-लोचन नामक गरूड़पति के रूप में उत्पन्न हुए। आसन कम्पित होने के कारण दुःखित बने वे इसी समय यहाँ आए हैं।

'अन्यत्र पूर्वोक्त अनलप्रभ देव कौतुक वशतः कई देवों को संग लेकर केवलज्ञानी महामुनि अनन्तवीर्य के पास गए थे। देशना समाप्त होने पर किसी शिष्य ने अनन्तवीर्य से पूछा, 'हे भगवन्, आपके बाद मुनि सुव्रत स्वामी के तीर्थ में कौन केवलज्ञानी होंगे।'

'प्रत्युत्तर में उन्होंने कहा, 'मेरे निर्वाण के पश्चात् कुलभूषण और देश-भूषण नामक दो भाई केवलज्ञानी होंगे।' यह सुनकर अनलप्रभ स्वस्थान को लौट गया।

'कुछ दिन पश्चात् अवधिज्ञान से हमको उन्होंने यहाँ ध्यान करते देखा। मिथ्यात्व के कारण मुनिवाक्य को मिथ्या करने के लिए और हमलोगों के साथ पूर्व भव का जो वैर था उसका प्रतिशोध लेने के लिए यहाँ आकर घोर उप-

सर्ग करने लगा। हम पर उपसर्ग करते हुए आज चौथा दिन हो गया है। आज वह आपलोगों के भय से भाग गया है और हमलोगों को भी कर्मक्षय हो जाने के कारण केवलज्ञान उत्पन्न हो गया है। वह देव उपसर्ग करने पर भी हमारे केवलज्ञान प्राप्ति में सहायक हुआ है।'

उसी समय वहाँ बैठे हुए गरुड़पति महालोचन देव बोले, 'हे राम, तुमने यहाँ आकर अच्छा ही किया है। अब बताओ तुम्हारे उपकार का मैं क्या प्रतिदान दे सकता हूँ?' राम ने कहा, 'हमारे लिए कुछ भी नहीं करना है।' किन्तु वह देव यह कहकर कि, 'मैं किसी समय तुम्हारा कोई उपकार करूँगा' अन्तर्धान हो गया।

यह संवाद सुनकर वंशस्थल के राजा सुरप्रभ भी वहाँ आए। उन्होंने राम को नमस्कार कर उनकी पूजा की। राम के आदेश से उन्होंने उस पर्वत पर अर्हत् चैत्य का निर्माण करवाया। उसी दिन से उस पर्वत का नाम रामगिरि प्रसिद्ध हो गया। तदुपरान्त राम सुरप्रभ राजा से बिदा लेकर निर्भीकता पूर्वक भयानक दण्डकारण्य में प्रविष्ट हुए और वहाँ एक वृहद् पर्वत की गुफा में घर पर जिस प्रकार स्वच्छन्दता पूर्वक रहा जाता है उसी प्रकार स्वच्छन्दता पूर्वक रहने लगे।

एक दिन आहार के समय त्रिगुप्त और सुगुप्त नामक दो चारण मुनि वहाँ अवतरित हुए। वे दो मास के उपवासी थे और पारने के लिए वहाँ आए थे। राम लक्ष्मण सीता ने भक्ति भाव से उनकी वन्दना की, तदुपरान्त सीता ने यथायोग्य अन्न जल देकर उनका पारना करवाया। उसी समय देवों ने रत्न और सुगन्धित जल की वर्षा की और कम्बुग्रीव के विद्याधरपति रत्नजटि एवं दो देव वहाँ आए, उन्होंने प्रसन्न होकर अश्व सहित राम को एक रथ दिया।

सुगन्धित जल की सुगन्ध से गन्ध नामक रुग्ण पक्षी जो कि वहीं रहता था एक वृक्ष से नीचे उतरा। मुनिद्वय को देखकर उसे जाति स्मरण ज्ञान हो गया। अतः वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। सीता के जल छिड़कने पर कुछ समय पश्चात उसकी चेतना लौटी तो वह दोनों मुनियों के चरणों में जा गिरा। मुनियों को स्पर्शौषध नामक लब्धि प्राप्त थी। इसीलिए उनके चरण स्पर्श से वह निरोग हो गया उसके डैने स्वर्ण तुल्य हो गए, चोंच प्रवाल-सी, पैर पद्मरागमणि-से और समस्त देह ने नाना प्रकार के रत्नों की प्रभा धारण कर ली। उसके सारे पर सुन्दर मणियों की तरह चटा दिखायी देने लगी।

अतः उस दिन से उस पक्षी का नाम जटायु हो गया।

राम ने मुनियों से पूछा, 'गिद्ध पक्षी मांसाहारी और स्थूलबुद्धि होते हैं पर यह गिद्ध, आपके चरणों में गिरकर शान्त कैसे हो गया ?'

सुगुप्त मुनि कहने लगे, 'बहुत दिनों पहले कुम्भकारकट नामक एक नगर था। वहाँ यह पक्षी दण्डक नामक राजा था। उस समय श्रावस्ती नगरी में जितशत्रु नामक राजा राज्य करते थे। उनके धारिणी नामक रानी से दो सन्तान पैदा हुयी, एक पुत्र, एक कन्या। पुत्र का नाम स्कन्दक और कन्या का नाम पुरन्दरयशा था पुरन्दरयशा का विवाह कुम्भकारकट नगर के राजा दण्डक के साथ हुआ। एकबार राजा दण्डक ने किसी कार्यवश पालक नामक एक ब्राह्मण दूत को जितशत्रु के पास भेजा। उस समय जितशत्रु अर्हत् उपासना में मग्न थे। सुयोग पाकर दुष्टबुद्धि पालक वहाँ जैन धर्म को दूषित करने लगा। यह देखकर राजपुत्र स्कन्दक ने दुराशय मिथ्यादृष्टि सम्पन्न पालक को सभ्य संवाद, युक्ति और तर्क द्वारा निरूत्तर कर दिया। इससे सभ्य लोगों में पालक उपहास का पात्र बन गया। फलतः पालक स्कन्दक के प्रति विद्वेष भाव रखने लगा। राजा ने जिनोपासना से निवृत्त होकर पालक को विदा किया। पालक पुनः कुम्भकारकट नगर को लौट गया।

'इसके कुछ दिनों बाद स्कन्दक ने संसार से विरक्त होकर पाँच सौ राजपुत्रों के साथ मुनि सुव्रत स्वामी से दीक्षा ग्रहण कर ली। तदुपरान्त एकदिन वे कुम्भकारकट नगर में जाकर पुरन्दरयशा और उसके परिवार को उपदेश देने की इच्छा से अपने गुरु की आज्ञा माँगी। मुनि सुव्रत स्वामी बोले, 'वहाँ जाने पर परिवार सहित तुमको मरणान्तक कष्ट होगा।' स्कन्दक मुनि ने पूछा, 'हे भगवन्, उस समय हम आराधक होंगे या नहीं ?' प्रभु ने प्रत्युत्तर दिया, 'तुम्हें छोड़कर सभी आराधक होंगे।' 'हे भगवन् तब मैं समझूँगा मेरा सब कुछ पूर्ण हो गया है।' ऐसा कहकर स्कन्दक मुनि ने उनका आदेश लेकर परिवार सहित वहाँ से विहार किया और अनुक्रम से कुम्भकारकट नगर के निकट पहुँच गए।

'उन्हें दूर से देखते ही क्रूर पालक को पूर्व बैर स्मरण हो आया। इसलिए उसने उसी समय साधु के निवास योग्य उद्यानों में जमीन के नीचे अस्त्र-शस्त्रादि रख दिए।

'उन्हीं उद्यानों के एक उद्यान में स्कन्दकाचार्य जाकर अब स्थित हुए। परिवार सहित राजा दण्डक उन्हें वन्दना करने आए। स्कन्दकाचार्य ने देशना दी, उस देशना को सुनकर लोग आनन्दित हुए। देशना की समाप्ति पर हर्षित चित लिए राजा अपने प्रासाद को लौट गए।

'उस समय दुष्ट पालक राजा को एकान्त में बोला, 'यह स्कन्दक मुनि वगुलाधर्मी विधर्मी है। हजार-हजार योद्धाओं से युद्ध कर सके ऐसे-ऐसे सहस्रायुधी पुरुषों को मुनिवेश पहनाकर यह महाशठ उनकी सहायता से आपकी हत्या कर आपका राज्य लेने के लिए यहाँ आया है। उस उद्यान में मुनि वेशधारी योद्धागणों ने गुप्तरीति से अपने अस्त्रादि छिपा रखे हैं। आप स्वयं जाकर सत्य-असत्य का निरूपण करें।'

'पालक के कथनानुसार राजा ने मुनियों का निवास स्थान खुदवाया। वहाँ उन्होंने विभिन्न विचित्र प्रकार के अस्त्र-शस्त्र दबे हुए देखे। इस पर दण्डक ने बिना विचार किए ही पालक को आदेश दिया, 'मन्त्रीवर, तुम इस षड़यन्त्र की बात जान गए यह अच्छा हुआ। मैं तो तुम्हारे द्वारा ही नेत्र सम्पन्न हूँ, अब इस दुर्मति स्कन्दक को जो भी दण्ड देना चाहो दो, कारण तुम सब कुछ जानते हो। इस विषय में अब तुम मुझ से दुबारा कुछ नहीं पूछना।'

'ऐसी आज्ञा पाते ही पालक ने मनुष्य को पीसकर मार डालने का एक यन्त्र तैयार करवाया और उसे उद्यान में रखवा दिया। तदुपरान्त वह स्कन्दक के सन्मुख ही उनके एक-एक मुनि को पीसकर मरवाने लगा।

'प्रत्येक मुनिको पीसकर मारने के समय स्कन्दकाचार्यने सम्यक आराधना करवायी। इस प्रकार समस्त मुनियों को पीसकर मार डाला गया। अन्ततः एक बालक मुनि बच गये। उसको जब यन्त्र के निकट ले जाने लगे तब स्कन्दकाचार्य के मन में करुणा उत्पन्न हो गयी। अतः वे पालक को बोले, 'पहले तुम मुझे पीसकर मार डालो ताकि उस बाल मुनि को पिसकर मरते मैं नहीं देख सकूँ। पालक, तुम मेरा इतना अनुरोध अवश्य मानो।' किन्तु स्कन्दकचार्य के सन्मुख उस बालक मुनि को पीसकर मारने से उन्हें अधिक कष्ट होगा सोचकर पालक ने उनकी बात न मानकर उनके सम्मुख ही उसे भी पीसकर मार डाला।

'सारे मुनि केवल-ज्ञान प्राप्त कर अक्षय पद को प्राप्त हो गए। किन्तु स्कन्दकाचार्य ने अन्त समय यह निदान किया यदि मेरी तपस्या का कोई फल है तो मैं दण्डक, पालक और उनके समस्त परिवार का नाश करने वाला बनूँ।' ऐसा निदान करते हुए स्कन्दकाचार्य को उसने पीसकर मार डाला। मृत्यु प्राप्त कर वे उन्हें नष्ट करने के लिए कालाग्नि-से वह्निकुमार देव रूप से उत्पन्न हुए।

'रक्त-सना स्कन्दकाचार्य का रजोहरण जो रत्न कम्बल के धागों से बनाया गया था और जिसे पुरन्दरयशा ने उन्हें दिया था एक पक्षी लेकर उड़ गयी। पक्षी के दोनों पैरों से पूरी शक्ति से पकड़े हुए होने के बावजूद भी वह रजोहरण दैवयोग से स्खलित होकर देवी पुरन्दरयशा के सन्मुख जा गिरा।

'रजोहरण देखते ही वह उद्विग्न हो गयी और भाई की खोज करवाने पर ज्ञात हुआ कि यन्त्र में पीसकर मुनियों सहित उनको मार डाला गया है। इससे वह अपने पति पर बहुत क्रोधित होकर बोल उठी, 'पापी, तुम यह कैसा पाप कर बैठे?' ठीक उसी समय शासन देवी आकर पुरन्दरयशा को मुनि सुव्रत स्वामी के पास ले गयी। वहाँ उसने तत्क्षण दीक्षा ग्रहण कर ली।

'उधर अग्निकुमार निकाय में उत्पन्न होते ही स्कन्दकाचार्य के जीव ने अवधिज्ञान से अपने पूर्व भव का वृतान्त ज्ञात कर पालक और दण्डक सहित समस्त नगरी को जलाकर भस्म कर डाला। नगर विनष्ट हो जाने से क्रमशः वह अरण्य में परिणत हो गया। दण्डक के नाम पर उस अरण्य का नाम दण्डकारण्य पड़ा।

'दण्डक राजा संसार के कारण रूप अनेक भवों का भ्रमण कर पाप कर्म के फल स्वरुप गन्ध नामक यह महारोगी पक्षी बना। मुझे देखकर इसे जाति स्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया है। मैं स्पर्शौषध नामक लब्धि प्राप्त हूँ, अतः मेरे स्पर्श से इसका समस्त रोग नष्ट हो गया है।'

इस प्रकार अपने पूर्व भव का वृत्तान्त सुनकर पक्षी बहुत प्रसन्न हुआ। वह पुनः मुनि के चरणों में जा गिरा और धर्मश्रवण कर श्रावक धर्म अंगीकार कर लिया। महामुनि ने उसकी इच्छा ज्ञात कर उसे जीवघात, मांसाहार और रात्रि भोजन का त्याग करवाया।

तदुपरान्त मुनि राम से बोले, 'यह पक्षी तुम्हारा स्वधर्मी है। स्वधर्मी बन्धु पर वात्सल्य भाव रखना कल्याणकारी है। ऐसा जिनेश्वरों ने कहा है।' मुनि वचन सुनकर रामने, 'यह मेरा परम मित्र है', कहकर मुनि को प्रणाम किया। मुनि वहाँ से आकाश पथ द्वारा अन्यत्र चले गए। राम लक्ष्मण और सीता उसी जटायु पक्षी के साथ दिव्य रथ पर बैठकर क्रीड़ा करते हुए अन्यत्र विचरण करने लगे।

[क्रमशः

संकलन

॥ शक्ति का प्रवाह मोड़ें ॥

शक्ति के दो रूप हैं—बाह्य और आन्तरिक। मनुष्य के पास जो बाह्य शक्ति है, शारीरिक शक्ति है, धन-सम्पदा, पद और प्रभुता की शक्ति है, उसका उपयोग यदि जनकल्याण, लोकहित और समाज के उत्थान में होता है तो वह सेवा का रूप ले लेती है पर यदि इस शक्ति का उपयोग मनुष्य अपने अहम् की तुष्टि और क्षुद्र स्वार्थ-पूर्ति के लिए करता है तो वह शक्ति अन्याय और अत्याचार का रूप ले लेती है। इससे समाज में शोषण और उत्पीड़न को बल मिलता है। मैत्री, सहयोग और सहकार के स्थान पर विग्रह, विवाद और विध्वंस का वातावरण बनता है। क्षेत्रीयता, प्रान्तीयता और साम्प्रदायिकता को बढ़ावा मिलता है। शक्ति का उपयोग निर्माण में न होकर विनाश में होता है। आज हम इस स्थिति से गुजर रहे हैं।

बाह्य शक्ति को सही मोड़ देने के लिए, उसके रचनात्मक उपयोग के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य के अन्तस् में रही हुई शक्ति को जाग्रत किया जाय, विकसित किया जाय। मनुष्य की यह आन्तरिक शक्ति किसी बाहरी तत्व से, पर पदार्थ से जुड़ी हुई नहीं है, यह उसके विचार और विवेक शक्ति से सम्बन्धित है। मनुष्य का जो वास्तविक स्वभाव है वही उसकी शक्ति है। क्षमा, विनय, सरलता, सहनशीलता, सहिष्णुता, दया, प्रेम, सहकार आदि ऐसे गुण हैं जिनके समुच्चय से आन्तरिक शक्ति आविर्भूत होती है।....

यह दुःख की बात है कि आज शक्ति का प्रवाह हिंसा, आतंक और सत्ता की ओर है। इस प्रवाह को हमें प्रेम, सहकार और सेवा की ओर मोड़ना है। इसमें युवकों की बड़ी भूमिका है। कठिनाई यह है कि आज युवक प्रबुद्ध विचारकों, तपनिष्ठ सन्तों, निष्ठावान समाजसेवियों तक पहुँच नहीं पाता, वह पहुँच पाता है आदर्शहीन चिन्तकों, स्वार्थग्रस्त समाजसेवकों और तोड़-फोड़ में लिप्त राजनेताओं तक। हमें युवकों की इस दशा को बदलने के लिए व्यापक योजना बनानी चाहिए, समाज-सेवा के कार्यों से उन्हें जोड़ना चाहिए।

—डॉ० नरेन्द्र भानावत

जिनवाणी ॥ सितम्बर-अक्टूबर १९९२

जैन पत्र-पत्रिकाएँ—कहाँ/क्या

कुशल निर्देश ॥ सितम्बर १९९२

इस अंक में है 'श्री सहजानन्दघनजी द्वारा भक्तवर्य श्री नवलकिशोरजी को दिया पत्र' (अनु० भँवरलाल नाहटा), 'भारतीय लिपि शास्त्रज्ञ जार्ज ब्यूलर : व्यक्तित्व और कृतित्व', 'थली प्रदेश की ऐतिहासिक यात्रा' (साध्वी श्री सौम्यगुणा श्री), 'पंचांग प्रणिपात' (विमलकुमार चोरड़िया), 'नवकार चिन्तन' (मोहनलाल गोलेछा)।

जिनमंजरी ॥ अक्टूबर १९९२

इस अंक में है 'The Word Puja and its Meaning in the Jain Context' (Pt. Dalsukh D. Malvania), 'Spiritual Hierarchy in Jainism' (Dr. Pranabananda Jash), 'Ligendary Tales and Dialouges in the Uttarajjhayana' (Dr. Ram Prakash Poddar), 'The Naga Lord Dharanendra in Jaina Pantheon' (Dr. Jagdish Chandra Jain), 'Antiquity of Jainism' (Dr. Narendra K. Dash), 'Jainism among the Common People during the time of Mahavira' (Dr. Binod Kumar Tiwary), 'Emperor Samprati : A Great Patron of Jainism 220-211 B. C.' (Jeevandhar Kumar Hotapeti), 'Some Unpublished Jain Inscription from South India' (Abhay Prakash Jain), 'Some Anthropological Studies on Rsabha Milienium' (Dr. P. M. Joseph), 'Jaina Religious Consciousness—A Paradigm for a Religio-Secular Involvement' (Vincent Sekhar), 'An Ancient Jaina Painting from Rajasthan—Lord Rama giving alms to Jain Saints' (Acarya Vidyanand tr. by Ramanik Shah), 'An Awakening : Experiencing and Under-standing Jainism' (Dr. Krishna Das), 'Healing of the Nations' (Dr. Paul R. Dekar).

जिनवाणी ॥ सितम्बर-अक्टूबर १९९२

इस अंक में है 'प्रार्थना कैसी हो ?' (स्व० आ० हस्तीमलजी), 'बन्धन क्या, मुक्ति का ?' (श्री मानचन्द्रजी), 'श्रावक धर्म : स्वरूप और चिन्तन' (श्री रमेश मुनि शास्त्री), 'गुणस्थान सिद्धान्त का उद्भव एवं विकास' (डॉ० सागरमल जैन), 'जैन दर्शन में प्रत्यक्ष लक्षण' (डॉ० धर्मचन्द जैन)।

LODHA MOTORS

A House of Telco Genuine Spare Parts and
Govt. Order Suppliers.
Also Authorised Dealers of Pace-setter and
Nicco Batteries in Nagaland State.

GOLAGHAT ROAD, DIMAPUR
NAGALAND

Phone : 3039, 3174

The Bikaner Woollen Mills

Manufacturer and Exporter of Superior Quality
Woollen Yarn, Carpet Yarn and Superior
Quality Handknotted Carpets

Factory and Sales Office :

BIKANER WOOLLEN MILLS

Post Box No. 24
Bikaner, Rajasthan
Phone : Off. 3204
Res. 3356

Main Office :

4 Meer Bohar Ghat Street
Calcutta-700007
Phone : 30-2071

Branch Office :

Peerkhanpur : Bhadhoi
Phone : 5378
5578,57 78

WB/NC-330
Vol. XVI No. 8 TITTHAYARA December 1992
Registered with the Registrar of Newspapers for India
under No. R. N. 30181/77